व्यक्तित्व विकास में सहायक देवीभागवतपुराणगत आसन एवं षट्चक्र

विपन कुमार
शोधार्थी, संस्कृत–विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

योगदर्शन को भारतीय संस्कृति में जो असाधारण महत्त्व प्राप्त है उस महत्त्व के मूलाधार का अन्वेषण करने से विदित होता है कि योग दर्शन आर्य जाति की प्राचीन पद्धति है। यह सत्य है कि योग साधन को सुव्यवस्थित और सर्वसुलभ रूप महर्षि पतञ्जलि ने ही दिया है परन्तु योगशास्त्र का उल्लेख वेदों से लेकर महाभारतपर्यन्त स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है।

संस्कृत शब्दार्थ–कौस्तुभ के अनुसार दो अथवा अधिक पदार्थों का एक में मिलना तथा चित्त की चञ्चलता का निग्रह योग कहलाता है।[1] हिन्दूधर्मकोशानुसार धार्मिक साधना का प्रसिद्ध मार्ग योग कहलाता है। यह दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ है अतः योग का उद्देश्य साधना प्रणाली के अभ्यास द्वारा भगवत्प्राप्ति तथा आत्मा को कैवल्य पद प्राप्त कराना है।[2] पाणिनी अष्टाध्यायी में 'युज्' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द की निष्पत्ति कही गयी है।[3] योग शब्द अपनी व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनेक धातुओं में निष्पन्न होने के कारण अनेक अर्थों के वाचक हैं। 'युज' धातु समाधौ दिवादिगण (आत्मनेपदी), 'युजिर्' धातु योगे रूधादिगण (उभयपदी) तथा 'युज्' धातु संयमने चुरादिगण (परस्मैपदी) के अर्थ में प्रयुक्त होती है। प्रायः समस्त ग्रन्थों में युजिर् योगार्थक धातु का अर्थ आत्मा का परमात्मा से मेल ही है जब कि पातञ्जल योगदर्शन में युज् धातु समाध्यर्थक है।

ऋग्वेद में उल्लिखित है कि योग के बिना ज्ञानीजन का कोई भी यज्ञकर्म सिद्ध नहीं होता। योगक्रिया सर्वश्रेष्ठ है, वह योग चित्तवृतियों के अनुरोध से सिद्ध होता है।[4] कठोपनिषद् में योग द्वारा उपलब्ध अपवर्ग का वर्णन करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि विषयों को त्यागकर जब पंच ज्ञानेन्द्रियाँ चित्त के साथ अन्तर्मुख हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टाशून्य हो जाती है तब उस स्थितप्रज्ञ की स्थिति को विद्वान् पुरुष परमगति कहते हैं जिस गति में इन्द्रियाँ स्थित हो जाती हैं उस गति को योग कहा गया है।[5] मुण्डकोपनिषद् में व्यवहृत है कि जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को ज्ञात कर चुके हैं तथा संन्यास और योग के द्वारा शुद्ध हो चुके हैं ऐसे साधक शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं तथा ब्रह्मलोक में परम अमृत का लाभ करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं।[6]

पतञ्जलि रचित योगसूत्र के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र में प्रयुक्त अनुशासन शब्द से भी यह पुष्टि होती है कि पतञ्जलि ने योगशास्त्र का उपदेश नहीं किया क्योंकि पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त का पुनःउपदेश करना ही अनुशासन शब्द का अर्थ है।[7] याज्ञवल्वयस्मृति के अनुसार यज्ञानुष्ठान, आचार, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, दान, वेदाध्ययन और पुण्यकर्मों में योग को श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। बाह्य चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा आत्मा का यथातथ्य बोध करना ही योग है।[8] यद्यपि योगशास्त्र के प्रवर्त्तक के विषय में मतभेद है परन्तु महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णित प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि योगशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक या उपदेष्टा पतञ्जलि में बहुत प्राचीन हिरण्यगर्भ नामक कोई ऋषि थे।[9] विष्णुपुराण में

योग से सम्बद्ध दो पद्यों के पश्चात् लिखा गया है कि महामति हिरण्यगर्भ के इस प्रकार के वचन का चिन्तन किया।[10] अतः स्पष्ट होता है कि हिरण्यगर्भ योगशास्त्र से ही विष्णुपुराण में पद्य उद्धृत किये गये हैं अर्थात् योगशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक हिरण्यगर्भ थे। देवीभागवतपुराण में योग के विषय में कहा गया है कि योग न तो आकाश, न पृथ्वी, न पाताल में ही है अपितु योग विशारद व्यक्तियों के अनुसार जीव और परमात्मा का ऐक्य ही योग है।[11] प्रस्तुत पुराण में पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन एवं वीरासन पञ्च आसन वर्णित हैं।[12] स्थिरता से सुखपूर्वक बैठने को ही आसन कहा गया है।[13] आसनों का वर्णन निम्नलिखित है–

1.पद्मासन

दोनों पाँवों के दोनों तलुओं को जाँघों पर रखकर हाथों को पीठ की ओर ले जाकर दाहिने हाथ से दाहिना पैर के अँगूठे को और बायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे को पकड़ना पद्मासन का लक्षण कहा गया है।[14] इस आसन से मन की चञ्चलता दूर होकर मन स्थिर होता है। आसन के अभ्यास से शरीर एवं मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होने से मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है मेरूदण्ड सीधा रहने सम्बन्धित रोग दूर होते हैं। इससे टखनों, घुटनों तथा जंघाओं का अच्छा व्यायाम होता है जिससे ये लचीले होकर पुष्ट होते हैं। प्रस्तुत आसन से सुषुम्ना में प्राणशक्ति मूलाधार से सहस्रार चक्र तक सहज प्रवाहित होती है।[15]

2.स्वस्तिकासन

जाँघ और घुटनों के मध्य में पैर के तलुओं को रखकर शरीर को सीधा करके बैठना स्वस्तिकासन का लक्षण है।[16] इस आसन को सुगम, सुखद तथा सुकर कहा गया है। अधिक समय तक उक्त आसन में सुखपूर्वक बैठकर योगसिद्धि भी शीघ्र प्राप्त होती है।[17]

3.भद्रासन

मूलाधार के नीचे सीवन के दोनों ओर ऐड़ियों को सम्यक् प्रकार से रखकर तथा मूलाधार के नीचे रखे दोनों पैरों को हाथ से पकड़कर बैठना भद्रासन कहा जाता है।[18] प्रस्तुत आसन से घुटने, पादाङ्गुलियाँ तथा सीवन के विकार नहीं होते तथा कामोत्तेजना भी शान्त रहती है। अतः यह आसन ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक है।[19]

4.वज्रासन

दोनों पैर क्रम से दोनों जाँघों पर रखकर दोनों घुटनों के अधोभाग में अंगुली रखकर दोनों हाथ स्थापित करके बैठने को वज्रासन नाम दिया गया है।[20] वज्रासन का उपयोग ध्यानात्मक आसन के रूप में किया जाता है। यही एकमात्र आसन है जिसे भोजन के बाद भी कर सकते हैं इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाने में मदद मिलती है। उदर वायु विकार दूर होते हैं। इस आसन के अभ्यास से जंघाओं पिण्डलियों की मांसपेशियों पर तनाव पड़ता है तथा दर्द दूर होता है।[21]

5.वीरासन

एक जाँघ के नीचे एक पैर को तथा दूसरी जाँघ के नीचे दूसरे पैर को रखकर ऋजुकाय बैठना वीरासन का लक्षण है।[22] भजन–कीर्त्तन इत्यादि में बैठकर उक्त आसन को करने से आलस्य–प्रमाद नहीं आता।[23]

1. मूलाधार

प्रथम चक्र मूलाधार चक्र है इसे ब्रह्मचक्र भी कहा जाता है। मेरुदण्ड के निम्नतम छोर पर सुषुम्ना में मूलाधार चक्र है जहाँ पर कुण्डलिनी शक्ति सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है। यह मूलाधार चक्र चार दलों वाला कमल है जो गुदास्थान के निकट सुषुम्ना में है।[24] देवीभागवतपुराण में रक्तविग्रहा शिखाकार कुण्डलिनीके बाह्यभाग में हेमरूपाभ श, ष, स, ह चार दलों से युक्त कमल को मूलाधार नाम दिया गया है। कुण्डलिनी शक्ति का मूलस्थान भी यही मूलाधार चक्र है। निरन्तर साधना के द्वारा साधक मूलाधार स्थित अधोमुखी सर्पाकार कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगति कराता है इसे कुण्डलिनी जागरण कहा जाता है।[25]

2.स्वाधिष्ठान

द्वितीय चक्र स्वाधिष्ठान चक्र है।[26] स्व शब्द प्राण का वाचक है इसलिए स्वाधिष्ठान प्राणचक्र है।[27] यह चक्र मेढ्र के निकट सुषुम्ना नाड़ी के समीप स्थित है। यह छः दलों का कमल है जो माणिक्य सदृश लाल रंग का है।[28] देवीभागवतपुराण में उल्लिखित है कि मूलाधार चक्र के ऊपर अनल के सदृश छः दलों से युक्त, हीरे की प्रभा के समान ब, भ, म, य, र, ल छः अक्षरों से सम्पन्न उत्तम स्वाधिष्ठान चक्र है।[29] सुषुम्ना नाड़ी में स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में पश्चिम की ओर मुख वाला मूंगे के अग्रभाग के समान अर्थात् रक्तवर्णीय शिवलिङ्ग विद्यमान है, यही उड्डियान पीठ भी है। निरन्तर योगाभ्यास के द्वारा जागृत हुई महाशक्ति कुण्डलिनी मूलाधार चक्र का भेदन कर स्वाधिष्ठान चक्र की ओर तीव्र गति से अग्रसर होती है। इस अवस्था में साधक को अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा न सुन हुए शास्त्रों का ज्ञान भी हो जाता है। शरीर निरोग हो जाता है तथा वह संसार में निर्भय रहता है।[30] इस प्रकार जगत् के प्राणी को अपनी ओर आकर्षित करने का सामर्थ्य आ जाता है।[31]

3.मणिपूरक

तृतीय मणिपूर चक्र है जिसको नाभिचक्र भी कहा जाता है।[32] इसका स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत आने वाले एक विशिष्ट केन्द्र नाभि क्षेत्र में है। यह मणिपूर चक्र दस दलों से युक्त है।[33] देवीभागवतपुराणानुसार स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर नाभिदेश में महान् प्रभा से युक्त अत्यंततेजोमय मणिपूरक चक्र कहा गया है। मणिसदृश प्रभा होने के कारण इसका अन्य नाम मणिपद्म भी है। यह दस दल तथा ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ अक्षरों से समन्वित होता है। विष्णु से अधिष्ठित होने के कारण यह विष्णु दर्शन में सहायक है।[34]

योगी मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र से महाशक्ति कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी बनाकर मणिपूर चक्र में प्रतिष्ठित कराता है। यह चक्र शिव शक्ति के परमानन्द मिलन का उच्चतर केन्द्र है। इस चक्र तक

पहुँचने पर कुण्डलिनी को मध्यमा शक्ति कहा जाता है।[35] एवंविध सहस्रार चक्र पर्यन्त आधी यात्रा पूर्ण होने से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

4.अनाहत

चतुर्थ अनाहत चक्र है जो सुषुम्ना में हृदय के पास स्थित है जिसको हृदय चक्र भी कहा जाता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में दलों की संख्या आठ उल्लिखित है[36] लेकिन गोरक्ष शतकादि ग्रन्थों में दलों की संख्या बारह कही गयी है।[37] देवीभागवतपुराण में वर्णित है कि मणिपूरक के ऊपर, आदित्य के सदृश आभा से युक्त, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, बारह अक्षरों से समन्वित अनाहत चक्र की स्थिति है। इस चक्र के मध्य में दस सहस्र सूर्यों की प्रभा के समान बाणलिंग विराजित है क्योंकि बिना किसी आघात के इसमें शब्द होता है इस कारण शब्दब्रह्ममय चक्र को अनाहत कहा जाता है।[38] इस अवस्था में साधक इन्द्रियजयी एवं शान्तचित्त हो जाता है, समस्त इच्छाएँ एवं अहंभाव समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार कुण्डलिनी स्वयं को शिव के पूर्ण मिलन के समीप अनुभव करती है।

5.विशुद्ध

पञ्चम विषुद्ध चक्र है जो सुषुम्ना में कण्ठ के पास स्थित है इसको कण्ठ चक्र भी कहा जाता है। यह चक्र सोलह दलों वाला कमल है।[39] देवीभागवतपुराणानुसार इस चक्र की स्थिति अनाहत चक्र से ऊपर है। सोलह दलों से युक्त यह पद्म अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः – इन सोलह स्वरों से युक्त महान् प्रज्ञा सम्पन्न धूम्रवर्णी इस चक्र में हंस स्वरूप परमात्मा के दर्षन से जीव विषुद्ध आत्म–स्वरूप को प्राप्त हो जाता है इस कारण इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। इसे आकाष चक्र भी कहते हैं। इस स्थिति में योगी को संसार की समस्त शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उसे संसार की कोई भी शक्ति अपने वश में नहीं कर सकती।[40] एवंविध योगी नादों की विभिन्नता से परे शाश्वत शिव–शक्ति के तादात्म्य का अनुभव करता है।

6.आज्ञा

षष्ठ चक्र आज्ञा चक्र है जिसको सिद्धसिद्धान्तपद्धति में सप्तम चक्र भी कहा है। इसे भूचक्र या मध्य चक्र भी कहा जाता है। यह दोनों भौंहों के मध्य में स्थित है। इस चक्र के मध्य में दीपशिखा के आकार का एक ज्ञाननेत्र है जिस पर ध्यान केन्द्रित करने से योगी वाक् सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[41] देवीभागवतपुराणानुसार विशुद्ध चक्र के ऊपर इस चक्र की स्थिति है। आज्ञा चक्र नाम रखने का कारण यह है कि इसमें परमात्मा की आज्ञा से प्रवेश होता है। अत्यंत मनोहर यह चक्र ह, क्ष अक्षरों से युक्त है इस चक्र पर ध्यान केन्द्रित करने से योगी शिव स्वरूप हो जाता है।[42] इस प्रकार उक्त चक्रों के पश्चात् क्रमशः कैलाश, रोधिनी तथा सहस्रार चक्रों की स्थिति होती है।[43]

निष्कर्ष

योग के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत का प्रवाह ध्यान के द्वारा नीचे की ओर जाने से रोक दिया जाता है, फलस्वरूप वह आन्तरिक चेतना के जागरण में लग जाता है। वह नीचे की ओर बहकर विषय वासनारूपी सर्पिणी के मुख में नहीं पड़ता। वास्तविक रूप से शरीर के विभिन्न स्थानों में बहुत से केन्द्र हैं। इन सभी केन्द्रों पर प्राण एवं ध्यान का प्रहार करके इनको चेतन किया जाता है अन्यथा

ये सुप्त ही पड़े रहते हैं। मूलाधार शक्ति अथवा काम का केन्द्र है इसे जब प्राण द्वारा जागृत किया जाता है तब यहीं से शरीर में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके ऊपर की ओर गति करता है एवंविध साधक को विचित्र अनुभव होते हैं। अतः देवीभागवतपुराण में निर्दिष्ट आसन एवं षट्चक्रों को आत्मसात् कर मनुष्य विविध व्याधियों से रहित होकर व्यक्तित्व को प्रखर बना सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. संस्कृत शब्दार्थ–कौस्तुभ, पृ० 959
2. हिन्दूधर्मकोश, पृ० 538
3. अष्टाध्यायी, 3.3.18
4. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन्।
   स धीनां योगमिन्वति।। ऋग्वेद, 1.18.7
5. यथापञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानिमनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।
   तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
   अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। कठोपनिषद्, 2.3.10–11
6. वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः।
   ते ब्रह्मलोकेषु पुरान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।। मुण्डकोपनिषद्, 3.2.6
7. अथ योगानुशासनम्। पातञ्जलयोगसूत्र, 1.1
8. इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
   अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।। याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.8
9. हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। महाभारत, शांतिपर्व, 3.49.65
10. हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्थं महामतिः। विष्णुपुराण, 2.13.44
11. न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले।
    ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योग विशारदाः।। देवीभागवतपुराण, 7.35.2
12. पदमासनं स्वस्तिकं च भद्रं वज्रासनं तथा।
    वीरासनमिति प्रोक्तं क्रमादासनपञ्चकम्।। वही, 7.35.8–9
13. स्थिरसुखमासनम्। योगसूत्र, 2.46
14. उर्वोरुपरि विन्यस्य सम्यक् पादतले शुभे।
    अंगुष्ठौ च निबध्नीयाद्धस्ताभ्याम् व्युत्क्रमात्ततः।।
    पद्मासनमिति प्रोक्तं योगिनां हृदयङ्गमम्। वही, 7.35.9–10
15. डॉ० सुशील कुमार व्यास, योगशिक्षा, पृ० 147
16. जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले शुभे।
    ऋजुकायो विशेद्योगी स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते।। दे०भा०, 7.35.11
17. योगेश्वरानन्द परमहंस, बहिरङ्गयोग, पृ० 95
18. सीवन्याः पार्श्वयोन्यस्य गुल्फ–युग्मं सुनिश्चितम्।
    कृष्णाऽधः पादपार्ष्णी पार्ष्णिभ्यां परिबन्धयेत्।।
    भद्रासनमिति प्रोक्तं योगिभिः परिपूजितम्।। दे०भा०, 7.35.12–13

19. योगेश्वरानन्द परमहंस, बहिरङ्गयोग, पृ० 324
20. उर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्य जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुली।
करौ विदध्यादाख्यातं वज्रासनमुत्तमम्।। दे०भा०, 7.35.13–14
21. योगशिक्षा, पृ० 143–144
22. एकं पादमधः कृत्वा विन्यस्योरुं तथोत्तरे।
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमितीरितम्।। दे०भा०, 7.35.14–15
23. आधारे ब्रह्मचक्रं .....। सिद्धिसिद्धान्तपद्धति, पृ० 33
24. आधाराख्यं गुदास्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम्। गोरक्षशतक, 18
25. तद्बाह्ये हेमरूपाभंबादिसांत चतुर्दलम्।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विचिंतयेत्।। दे०भा०, 7.35.34
26. द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र .....। सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2.2
27. स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः। गोरक्षशतक, 22
28. स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्य समप्रभे। गोरक्षसंहिता, 2.65
29. तदूर्ध्वं त्वनल–प्रख्यं षड्दलं हीरक–प्रभम्।
बादिलान्त षड्वर्णेन स्वाधिष्ठानमनुत्तमम्।। दे०भा०, 7.35.35
30. विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद् ध्रुवम्।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः।। शिवसंहिता,5.101
31. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2.2
32. वही, 2.3
33. गोरक्षशतक, 15
34. दे०भा०, 7.35.37–39
35. मध्यमा शक्तिः सर्वासिद्धिदा भवति। सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2.3
36. चतुर्थ हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं। वही, 2.4
37. सूर्य संख्या दलं हृदि। गोरक्षशतक,15
38. दे०भा०, 7.35. 39–42
39. कण्ठे स्यात् षोडशदलं.....। गोरक्षशतक, 16
40. दे०भा०, 7.35.42–44
41. सप्तम भ्रूचक्र मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद्
वाचां सिद्धिर्भवति। सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2.7
42. आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वं तु आत्मनाऽधिष्ठितं परम्।।
आज्ञा–संक्रमणं तत्र तेनाज्ञेति प्रकीर्तितम्।।
द्विदलं ह–क्ष संयुक्तं पद्मं तत्सुमनोहरम्। दे०भा०,7.35.44–45
43. कैलासाख्यं तदूर्ध्वं तु रोधिनी तु तदूर्ध्वतः।
एवं त्वाधार–चक्राणि प्रोक्तानि तव सुव्रत।।
सहस्रार–युतं बिन्दु–स्थानं तदूर्ध्वमीरितम्। वही, 7.35.46–47